किसी एक फिल्म का नाम "**दो**" **ओम थानवी**

‘पथेर पांचाली’ (1955) से लेकर ‘आगंतुक’ (1991) तक सत्यजित राय ने पूरे छत्तीस वर्ष काम किया और छत्तीस फिल्में बनाईं। यानी हर साल एक फिल्म। मगर औसतन। किसी वर्ष कोई फिल्म नहीं बनाई। किसी वर्ष एकाधिक बनाईं।

उनकी छत्तीस फिल्मों में ज्यादातर फीचर फिल्में रहीं। इनके साथ पांच फिल्में वृत्तचित्र की विधा में बनाईं और दो लघु फिल्मों के रूप में।

‘टू’ या ‘दो’ (1964) उनकी पहली लघु फिल्म थी। ‘पीकू’ (1980) दूसरी। ‘दो’ की घोषित अवधि महज पंद्रह मिनट थी, पर फिल्म लगभग बारह मिनट की है। ‘पीकू’ छब्बीस मिनट की। ‘दो’ श्वेत-श्याम थी, जबकि ‘पीकू’ रंगीन। दोनों फिल्में विदेशी प्रस्ताव पर बनाई गईं। ‘पीकू’ के निर्माता फ्रांसिसी आंरी फ्रेज थे। ‘दो’ अमेरिकी प्रतिष्ठान एसो वर्ल्ड थियेटर (यूएस पब्लिक टेलीविजन से संबद्ध) ने बनवाई। एसो ने भारत पर तीन छोटी फिल्मों की योजना बनाई थी, जिसमें इस एक का प्रस्ताव उन्होंने राय को दिया। बाकी दो इंगमार बर्गमैन (स्वीडन) और टोनी रिचर्डसन (इंगलैंड) को। निर्माता चाहते थे राय बंगाल की पृष्ठभूमि में कोई लघु फिल्म बनाएं, मगर अंगरेजी में।

वृत्तचित्रों को छोड़कर राय ने अपनी सभी फिल्में बंगाल की पृष्ठभूमि में ही बनाईं और बांग्ला जुबान में ही। बस प्रेमचंद की कहानियों पर बनीं ‘शतरंज के खिलाड़ी’ और ‘सद्गति’ छोड़कर, जिन्हें हम अपवाद मान सकते हैं। ये दोनों फिल्में हिंदी में बनाई गई थीं। प्रसंगवश, कुछ लोग ‘सद्गति’ को भी राय की लघु फिल्म मानते हैं — राय की पत्नी विजया भी — लेकिन लगता है उनका यह आग्रह फिल्म की अवधि (पचपन मिनट) की वजह से ज्यादा होगा। यों भी फीचर फिल्म और लघु फिल्म में एक संधि-रेखा मौजूद है, जहाँ दोनों तरफ निकटता खोजी जा सकती है। ‘सद्गति’ की दिशा मुझे फीचर फिल्म की ओर ले जाती है, जैसे कि ‘पीकू’ की लघु फिल्म की ओर।

फ्रेंच निर्माता आंरी फ्रेज का राय से दोस्ताना था। उन्होंने सब कुछ राय पर छोड़ा तो ‘पीकू’ भी बांग्ला में बनी। लेकिन अंगरेजी में लघु फिल्म बनाने का अमेरिकी प्रस्ताव राय को शायद जंचा नहीं। ऐसा नहीं कि अंगरेजी में उनका हाथ तंग था। अंगरेजी में वे सिद्धहस्त थे। ‘शतरंज के खिलाड़ी’ में अंगरेज चरित्रों के संवाद (याद करें जनरल आॅट्रम की भूमिका में रिचर्ड एटेनबरो) उन्होंने खालिस अंगरेजी में ही रखे। हिंदी में वे कमजोर थे, इसलिए दोनों हिंदी फिल्मों की पटकथा पहले अंगरेजी में लिखी। लेकिन अमेरिकी निर्माता का बंगाली पृष्ठभूमि में अंगरेजी में फिल्म बनाने वाला घालमेल उनको शायद जंचा नहीं। और उन्होंने उनके लिए ‘दो’ नाम से संवादहीन फिल्म बना दी। उसे उन्होंने उप-शीर्षक में □एक नीतिकथा□ करार दिया था।’दो’ को अब मूक फिल्मों की विरासत के प्रति — जिसके राय स्वयं सदा कायल थे — उनकी प्रणति (ट्रिब्यूट) समझा जाता है!

two-satyajit-ray

तो इस तरह ‘दो’ उनकी अकेली ‘मूक’ फिल्म है। वह उनकी सबसे छोटी फिल्म है। वह उनकी सबसे कम देखी

गई फिल्म भी है — ज्यादातर राय-पुनरवलोकन आयोजनों में उसकी उपेक्षा होती आई है। और उसे कोई पुरस्कार भी नहीं मिला। इसकी वजह यह रही होगी कि भारत में उसका कहीं प्रिंट ही उपलब्ध न था। इसका अंदाजा विजया राय की आत्मकथा (‘मानिक एंड आइ’) से चलता है, जिसमें वे कहती हैं कि “20 अप्रैल (1985) को एसो (अमेरिकी निर्माता) ने हमें ‘दो’ की एक प्रति भेजी। रात निर्मल्य (आचार्य) घर आए और हम सबने मिलकर इस फिल्म को देखा। यह बहुत छोटी फिल्म है, मगर फिल्म ख़त्म होने पर हमारी आँखें नाम हो आई थीं।”

बीस साल बाद निर्देशक को देखने को मिली फिल्म का वह प्रिंट भी पता नहीं कैसा रहा होगा। हो सकता वीएचएस में रहा हो क्योंकि मिलते ही उसे घर पर देखा गया था। अगर 35 एमएम प्रिंट होता तो बाहर देखा जाता। राय के परिवार से बाद में वह प्रिंट केलिफोर्निया विश्वविद्यालय स्थित ‘सत्यजित राय फिल्म एंड स्टडी सेंटर’ को भी उपलब्ध हो सकता था। सेंटर ने ही राय की अनेक (अठारह) फिल्मों का उद्धार (रेस्टोरेशन) लास एंजिलिस में आस्कर एकेडमी से करवाया है। ‘दो’ का सुधार सेंटर के प्रयत्नों से हाल के वर्षों में ही हो पाया है। तब, जब अगले साल इस फिल्म को बने पूरे पचास वर्ष होने को हैं। राय स्टडी सेंटर के संस्थापक निदेशक प्रो. दिलीप बसु ने एक पत्र के जवाब में बताया कि उन्हें कुछ वर्ष पहले फिल्म का एक ३५ एमएम प्रिंट फिलेडेलफिया के फिल्म वितरक से मिला था। उनके मुताबिक़, “आस्कर एकेडमी में सुधरा प्रिंट फिल्म का एकमात्र उपलब्ध प्रिंट है।”

मगर बारह मिनट की वह लघु फिल्म मेरी समझ में सत्यजित राय की सबसे महत्त्वपूर्ण फिल्मों में एक है। उनकी दूसरी लघु फिल्म ‘पीकू’ को भी मैं उनकी सर्वाधिक अहम फिल्मों में शरीक करता हूँ। लेकिन संवादहीनता ‘दो’ को अलग खड़ा कर देती है और फिल्म के हर दृश्य में निर्देशक के दृष्टिकोण के साथ संगीत, सन्नाटा और ध्वनि-प्रभाव, अभिनय और सिनेमैटोग्राफर के काम के आयाम देखने का सर्वाधिक अवकाश उपलब्ध कराती है।

‘दो’ और ‘पीकू’ दोनों में निर्देशन के अलावा संगीत राय का अपना था। और दोनों की पटकथा भी। मगर कहानी?

‘पीकू’ राय की अपनी कहानी ‘पीकूर डायरी’ से प्रेरित थी। इसी तरह सात फीचर फिल्में (कंचनजंघा, नायक, सोनार केल्ला, जय बाबा फेलुनाथ, हीरक राजार देशे, शाखा प्रशाखा और आगंतुक) उनकी अपनी कहानियों पर आधारित थीं। लेकिन ‘दो’? क्या उसमें कोई कहानी है?

दरअसल ‘दो’ निरी पटकथा है। उसमें कहानी ढूंढी जा सकती है। पर वह कहानी नहीं है। इस तरह अपनी सबसे छोटी फिल्म में ही सही, सत्यजित राय कहानी से फिल्म को मुक्त करने की सफल चेष्टा कर गए हैं। अब तो कई निर्देशक (मसलन मिशेल हानेके) फिल्म की विधा को कहानी से बाहर ले आए हैं। जहां पटकथा ही फिल्म की कहानी होती है। कोई बंधा-बंधाया एकरेखीय कथासूत्र फिल्म को नहीं हांकता, जहां निर्देशक बस सूत्रबद्ध घटनाक्रम को दृश्यों में पिरोता चला जाए। मानो एक सदियों पुरानी विधा में कही गई बात को नए युग की दृश्य विधा में अनुवाद-भर कर देने की जुगत हो रही हो। यह कहना एक किस्म का सरलीकरण होगा, लेकिन

यह सच्चाई है कि कहानी की गिरफ्त से छूटने में सिनेमा ने — प्रयोगधर्मी सिनेमा ने ही सही — बहुत बरस लगाए।

आम सिनेमा तो अभी भी पहले कथ्य का आसान आधार या फार्मूला — अर्थात कहानी — ढूंढता है। यह सिलसिला मूक फिल्मों के दौर से शुरू हुआ था, जब फिल्में संवादहीनता यानी इशारों में भी कथा-सूत्र की तलाश और संकेत-पट्ट पर सूत्र-प्रदर्शन की कोशिश में संलग्न दिखाई देती थीं। बोलती फिल्में शुरू हुईं तो पटकथा अधिकांशतः संवादों में ढल गई। मोटा-मोटी यही सिलसिला आज भी जारी है। उसे तोड़ा जा सकता है, इसके संकेत भी हमें सिनेमा से ही मिले। और सत्यजित राय इसमें आगे रहे। भले संकेत रूप में, अपनी लघुतम फिल्म 'दो' में।

सत्यजित राय को लेकर भी यह सवाल मुझे मथता रहा है कि उन्होंने हमेशा यथार्थवादी और कथापरक फिल्में ही क्यों बनाईं, जबकि दुनिया भर के फिल्म संसार की खबर उनको थी और मौलिक कर दिखाने की प्रतिभा भी। 'पथेर पांचाली' में मूल उपन्यास के साथ पूर्ण निष्ठावान बने रहकर उन्होंने निर्देशन धर्म का अनूठा निर्वाह किया। कथा के सहज कथन-निरूपण ने ही फिल्म को महान, करुणा का सच्चा-सरल दस्तावेज बना दिया। आगे भी वे हमेशा बेहतर कथा-सूत्र की तलाश में रहे। बाहर न मिलने पर खुद की कहानी चुनी — कुशल कथाकार वे थे ही। इसकी सीधी-साफ वजह, मुझे लगता है, आर्थिक रही होगी। विज्ञापन की बंधी-बंधाई आय का जरिया छोड़कर सिनेमा की दुनिया में उन्होंने कदम रखा और वही उनका रोजगार बन गया। वे जमीन-जायदाद वाले धनी परिवार के न थे। वे बांग्ला में ही काम करते थे और सिर्फ बंगाली दर्शक के लिए फिल्म बनाते थे। ऐसे में फिल्म में पैसा फूंकने वाला निर्माता प्रयोगधर्मी फिल्म के लिए कहाँ अवकाश देगा?

विजया अपनी आत्मकथा में — जिसे राय की जीवनी की तरह भी पढ़ा जाएगा — बताती हैं कि साल में एक या दो फिल्में बनाने से गुजर नहीं हो पाती थी। लिखकर राय जो अतिरिक्त कमाते, उसके सहारे ही वे घर चला पातीं। कोई संचय न था, न कभी किया। एक दफा गृहस्थी की गाड़ी फंस गई; मैग्सायसाय एवार्ड का धन मिला तो कुछ महीने का सहारा हुआ।

समझा जा सकता है कि अमेरिकी प्रतिष्ठान ने बंगाली परिवेश में अंगरेजी में लघु फिल्म बनाने को कहा और अपनी शर्त पर राय ने अंगरेजी को ही गोल कर दिया; नितांत प्रयोगधर्मी फिल्म के रूप में उन्होंने 'दो' बनाई। ऐसा मौका और मिलता तो — मैं अंदाजा करता हूं — वे और प्रयोग जरूर करते। अपनी ज्यादातर फिल्में — तेईस — उन्होंने 'दो' के बाद ही बनाईं, लेकिन 'दो' को दोहराया नहीं जा सका। 'पीकू' में भी नहीं।

इसका अर्थ यह न निकाला जाए कि सिनेमा में सूत्रबद्ध कहानियां कहकर राय ने कोई हल्का काम किया। 'दो' में उनकी प्रतिभा के जिस पहलू की झलक मिल जाती है, वह बाद में — जाहिरा तौर पर अवसर के अभाव में — फिर नहीं मिलती। 'पथेर पांचाली' या 'चारुलता' दुबारा नहीं बन सकती। लेकिन हर फिल्म राय की छाप लेकर जरूर आती है। पर मेरी बेचैनी यह है कि वे नायाब कहानियां फिल्म से कहते हैं, 'दो' बीच में कहीं पुरानी रील पर किसी धारी या खुरच की तरह आती है और चली जाती है।

अब देखें कि 'दो' क्या है। 'दो' दो बच्चों की 'कहानी' है। एक अमीर है, दूसरा गरीब। फिल्म में कोई तीसरा दृष्टव्य चरित्र नहीं है; बस, पहले बच्चे का कार में जाता अदृश्य अभिभावक है। दोनों बच्चों में कथोपकथन नहीं है। बस बारह मिनट का घटना-क्रम है। निश्चय ही उसे आप दोनों बच्चों के बीच संवाद समझ सकते हैं। पर यह संवाद मामूली हरकतों के साथ, देखते-देखते, किस तरह आपसे, समाज से बड़ा संवाद बन जाता है — वह देखने की चीज है।

यों 'पीकू' के केंद्र में भी बच्चा है। लेकिन उसमें उसकी मां है, नौकरीपेशा पिता है, रोगशैया पर दादा हैं, नौकर हैं और मां का प्रेमी है। सब में संवाद है; पीकू जरूर अपेक्षया मौन रहता है। उसका मनोविज्ञान अचानक घर से चल देने वाले पिता, मरणासन्न दादा, हरी मिर्च खाने वाले नौकर और किसी और के साथ अंतरंग संबंधों में खोई मां के सामने लगभग चुप्पियों में उलझ चुका है।

'पीकू' में हम पीकू के साथ सबको नाम नहीं तो संबंधों से पहचानते हैं। 'दो' में आप सिर्फ अनुमान कर सकते हैं कि फिल्म के शुरू में जो गाड़ी घर से बाहर निकलते देखी, उसमें शायद अमीर बच्चे का पिता या माता हो। बच्चे को शायद नीचे गाड़ी की आवाज से ही पता चलता हो कि माता या पिता निकल रहे हैं। अति-स्वस्थ लड़का गर्वोन्मत्त चाल में कोला की बोतल गटकते बंगले के टैरेस पर आता है, कार की ओर बेमन हाथ हिलाता है। उसकी कलई पर घड़ी भी है। गौर करने की बात है कि 'पीकू' में भी राय ठीक यही दृश्य दोहराते हैं!

पिता के जाने के बाद 'दो' का पहला लड़का पहली मंजिल वाले विशाल कमरे में लौट आता है, जो कई कमरों में खुलता है। छत और जमीन के गुब्बारे देख आप लक्ष्य कर सकते हैं कि लड़के का जन्मदिन मनाया गया होगा। लड़के के सिर पर ऊंचे कानों वाली बागड़बिल्ले-सी टोपी है। कमरपेटी पर नक्काशीदार म्यान में खिलौने वाली तलवार भी टंगी है। उसे खुश दिखना चाहिए। वह दुखी नहीं है, पर खुश भी नहीं दीखता। खाली घर में अकेले बच्चे की बेचैनी हम साफ भांप लेते हैं। बॉल को वह अकारण फुटबॉल की तरह उछालता है। दियासलाई जलाता-बुझाता है। ऊपर पंखे के साथ गुब्बारे लटके हैं। वह पास पड़ा गुब्बारा उठाता है और उसे तीली दिखा कर उड़ा देता है। एक और तीली और दूसरा गुब्बारा। हमें बेचैन मन का और पता मिलता है।

चुइंग-गम मुंह में रखता है। दूसरे कमरे में जाता है। फर्श पर लकड़ी के गोलाकार टुकड़ों से बनी मीनार को और ऊंचा करता है। फिर मेज पर सजे खिलौनों की कतार का मुआयना करता है। लेकिन असल बेचैनी से उसका साबका अभी बाकी है। अकेलेपन के बरक्स वह बेचैनी दाखिल होती है कहीं बाहर से आती बांसुरी की एक आवाज के साथ। वह खिड़की पर जाकर नीचे झांकता है। एक गरीब बच्चा खेत में अपनी झोंपड़ी के बाहर टहलते हुए टूटे स्वरों में बांसुरी बजा रहा है।

राय उन बिरले फिल्मकारों में थे, जिनकी संगीत की समझ बहुत गहरी थी। भारतीय और पाश्चात्य, दोनों तरह के संगीत की। यों तो वे अभिनय को छोड़कर सिनेमा के हर पहलू पर हाथ आजमा सकते थे। मैंने उन्हें जब अपने स्कूल के दिनों में 'सोनार केल्ला' का फिल्मांकन करते देखा, वे कैमरा लेकर खुद ट्रॉली पर बैठे हुए थे। सुब्रत मित्र — और बाद में सोमेन्दु रॉय — जैसे सिद्ध छायाकार साथ होते हुए भी अक्सर वे कैमरे पर अपनी पकड़ का प्रमाण देते थे। यह काफी-कुछ निर्देशन के काम का भी हिस्सा होता है। लेकिन संगीत में निर्देशक

उस तरह घड़ी-घड़ी खुद मैदान में नहीं आ सकता। इसलिए शुरू में उन्होंने भारतीय संगीत के उस्तादों का सहयोग लिया। मसलन अपू-त्रयी और 'पारस पाथर' में पं. रविशंकर, 'जलसाघर' में उस्ताद विलायत खां, 'देवी' में उस्ताद अली अकबर खां। 'जलसाघर' तो चूंकि एक रसिक रईस के (ढलते सही) ठाठ-बाट पर थी, इसलिए उसमें वे विलायत खां साहब के संपर्कों के चलते बिस्मिल्ला खां, वहीद खां, इमरत खां, बेगम अख्तर आदि को भी ले आए थे।

लेकिन बहुत जल्द, 'तीन कन्या' (1961) से, अपनी फिल्मों का संगीत वे खुद तैयार करने लगे। और बगैर कोई शुल्क लिए। एकाध अपवाद (जैसे फिल्म्स डिवीजन के लिए रवींद्रनाथ ठाकुर पर बना वृत्तचित्र) छोड़ दें, तो कोई चालीस फिल्मों में सत्यजित राय ने खुद संगीत दिया। इनमें कुछ दूसरों की बनाई फिल्में भी शामिल हैं। पर इस पहलू पर जानकार अलग से चर्चा करेंगे। इस प्रसंग को यहां लाने की वजह केवल यह कि फिल्म संगीत को लेकर जल्दी ही राय की अपनी धारणा बन गई। फिल्म का संगीत आम संगीत रचना से अपने प्रयोजन में ही अलग होता है। फिल्म में वह दृश्य का सहारा, या दृश्य की रंगत के अनुकूल प्रभाव पैदा करने वाला, नहीं हो सकता। इससे आगे जाकर फिल्म का संगीत खुद फिल्म का एक पात्र बन सकता है। मगर उस तरह के संगीत की रचना मंच की दीक्षा वाला संगीतज्ञ हमेशा नहीं कर सकता। उसके लिए अलग तेवर चाहिए। सत्यजित राय इस बात को पुष्ट करने के लिए अनुपम उदाहरण होंगे। और इसकी पुष्टि में आपको लघु फिल्म 'दो' भी जरूर शामिल करनी होगी।

'दो' पाश्चात्य वाद्य ट्रम्पेट की पुकार के साथ शुरू होती है। फिर कुछ बाहर की आवाजें (लड़का अभी टैरेस पर है)। कमरे में लौटते ही ट्रम्पेट के साथ एक और पाश्चात्य वाद्य ट्रंबोन की ध्वनि मिल जाती है, पीछे शायद कोई विदेशी लोकवाद्य। संगीत में जैसे सुरीला होने न होने की उधेड़बुन है! खुशगवार है, पर एक धुन की तरह बहता नहीं जाता, सुर आपस में टकराते लगते हैं। इस गड्डमड्ड संयोजन में संगीत ही हमें बच्चे की उलझी हुई मनःस्थिति की भनक दे देता है। फिर बच्चा जब सोफे पर पसर जाता है, दियासलाई जलाता-बुझाता है, गुब्बारे फोड़ता है, तब — जाहिर है — संगीत की जरूरत नहीं रह जाती। कुछ देर के लिए वह अनुपस्थित हो जाता है।

उठने के साथ ट्रम्पेट-ट्रंबोन की जुगलबंदी में कोई राजस्थानी अलगोजे जैसा लोकवाद्य उभर आता है (सतारा भी हो सकता है)। फिर आधुनिक खिलौनों की कतार, जिसका जिक्र मैंने पहले किया। एक दैत्य का मुखौटा, रोबोट, ड्रम और टिंपनी 'बजाने' वाले पशु। लड़का वायलिन-धारी बंदर का बटन दबाता है। बंदर की चीं-चीं के बीच सहसा बाहर से आती बांसुरी की आवाज उसके कानों में पड़ती है। मुड़कर खिड़की की ओर देखता है। खिड़की से नीचे झांकता है। खेत में गरीब बच्चा दिखाई देता है।

यहाँ यह बता देना मुनासिब होगा कि खेत का बच्चा सचमुच एक झुग्गी वाले का बेटा था। राय ने यह प्रयोग भी — जाहिर है सफलतापूर्वक — साठ के दशक में कर लिया। बहुत बाद में हमने 'सलाम बॉम्बे' (मीरा नायर) और 'स्लमडॉग मिलियेनर' (डैनी बॉयल) में यही प्रयोग देखे, जिनमें झुग्गियों के गरीब बच्चे कलाकार बने।

खेत के गरीब बच्चे की बांसुरी दरअसल खिलौने वाली बांसुरी है। बच्चा जो बजा रहा है, उसमें कोई धुन नहीं है। पर सुर साधने की कोशिश पूरी है। बंगले में अकेले-उकताए बच्चे को अपने एकरस शोर करने वाले खिलौनों

के सामने बांसुरी की यह आवाज आकर्षित करती है। मगर वंचित का अहं शायद आहत होता है। लड़का बांसुरी वाले लड़के को सबक सिखाने की मुद्रा में मुंह बनाता है और अपने खिलौनों में से ट्रम्पेट उठा लाता है। ट्रम्पेट का मुंह खिड़की के बाहर कर बांसुरी के जवाब में ऊँचे स्वर में बार-बार बजाता है। कमोबेश उन्हीं सुरों में, मानो साधनहीन बच्चे को चिढ़ाने के लिए। बांसुरी का स्वर पिट जाता है। बच्चा बांसुरी नीचे कर झोंपड़ी में चला जाता है। मगर जल्दी ही छोटा ढोल बजाते नाचते हुए लौटता है। ऊपर वाला बच्चा फीकी मुस्कान के साथ इसे नई चुनौती की तरह लेता है और भीतर से ड्रम बजाने वाला बंदर उठा लाता है। इस खिलौने की आवाज हाथ से बजते ढोल से भारी नहीं, पर उसकी मशीनी चाल गरीब बच्चे को मायूस कर देती है।

झोंपड़ी में लौट लड़का शेर का कबीलाई मुखौटा और धनुष-बाण धारण कर आता है, नाचते-कूदते। पीछे हुडुक जैसे लोकवाद्य की चिहुंक। ऊपर के बच्चे का चेहरा क्षण भर के लिए उतर जाता है। अब वह दैत्य का मुखौटा धारण करता है और खिड़की के बाहर तलवार लहराता है। है-है है-है की ध्वनि का उच्चार करता है, जो फिल्म में मानव की अकेली आवाज है। अब वह फिर से 'हारने' को तैयार नहीं। फुरती के साथ वह एक-एक कर कई हमलावर खिलौने और वेश आजमाता है: रेड इंडियन बनकर भाला नचाता है, काउबॉय होकर पिस्तौल दागता है, सैनिक के टोप में तलवार भांजता है, मुखौटा लगाकर मशीनगन बरसाता है। मुखौटा उतारता है तो अब उसके चेहरे पर पुती ऊपर बल खाती मूंछें भी हैं। गरीब का धनुष और बाण नीचे हो जाते हैं। मुड़ता है और थके कदमों से लौट पड़ता है, हताशा में मुड़कर एक बार फिर खिड़की की ओर देखते हुए।

राय की और तमाम फिल्मों की तरह 'दो' का संपादन भी दुलाल दत्त ने किया था। सीमित अवधि की जद्दोजहद के बावजूद हमें कोई दृश्य अपनी सीमा — या निर्देशक की जरूरत — को लांघता नहीं दिखाई पड़ता। कहीं कोई झोल नहीं। फिल्म कुछ लम्बी भी की जा सकती थी। निर्माता की तरफ से बारह मिनट की बंदिश शायद ही रही हो। लेकिन जिस तरह एक मौके पर अमीर लड़के का बारी-बारी से हमले के रूप बदलने का प्रसंग है, वे रूप इतना जल्दी बदलते हैं कि लड़के की बेचैनी, झुंझलाहट, ईर्ष्या और अकुलाहट को बखूबी पुष्ट कर देते हैं। संपादन का ही कमाल मानिए कि उपर्युक्त दृश्यावली जहाँ घटित होती है, वहां आधी फिल्म बीत चुकी होती है।

संपादन के साथ फिल्म का छायांकन भी गौरतलब है। सोमेंदु रॉय ऊपर और नीचे की दूरी, खेत और बंगले को हमेशा एक निश्चित कोण पर रहकर पकड़ते हैं। तीक्ष्ण तकरार की घड़ी में भी कोई आम तौर पर क्लोज-अप नहीं लेते। न कैमरा पैन करते हैं। न बार-बार जूम करते हैं। निर्देशक के साथ छायांकन का काम इस अर्थ में पूर्णतः एकमेव होता है कि सत्यजित राय बच्चों की तकरार को शायद एक मनोवैज्ञानिक दीवार से ज्यादा नहीं दिखाना चाहते।

यह सही है कि वह तकरार बच्चों के बीच खेल नहीं है; लेकिन आखीर में है वह सिर्फ दो परिवेशों की टकराहट; कोई युद्ध नहीं है, न स्थाई रंजिश है। संपन्न बच्चे की उलझी हुई मनःस्थिति के पीछे आप उसके अभिभावकों की अभिवृत्ति को देखते हैं और रहन-सहन आदि को भी। इसलिए कैमरा उस चेष्टा में अपनी भरपूर ताल देता है, जहाँ निर्देशक राय घटना-क्रम के बीच संगीत, वाद्य, ध्वनि — या अध्वनि — प्रभाव के जरिए उस लय को हासिल करना चाहते हैं, जो बच्चों को अंततः बच्चा ही रहने दे। इन कोशिशों में राय सफल न होते तो 'दो' एक किस्म की हिंसक फिल्म भी बन जा सकती थी।

यहां दोनों बाल अभिनेताओं की चर्चा भी करनी होगी। बच्चों से फिल्म के चरित्र के अनुकूल अभिनय करवाना निर्देशक के लिए टेढ़ी खीर होता है। उस अवस्था में आप उन्हें ठीक से समझा नहीं सकते कि फिल्म का कथ्य किस तरह की भावनाओं की संश्लिष्टता को दृश्यों में विन्यस्त करना चाहता है। लेकिन इस मामले में दोनों बच्चों का चुनाव (कास्टिंग) बहुत माकूल है। दोनों का अभिनय बहुत सायास नहीं है। अक्सर वह इतना मासूम है कि फिल्म के लक्ष्य को बखूबी आगे बढ़ाता चलता है। उनके पीछे — और चीजों की तरह — निर्देशक की सफलता तो अपनी जगह है ही।

बहरहाल, फिल्म के अंतिम हिस्से की ओर आएं। मशीनगन बौछार, मूंछें धरने के बाद ऊपर के बच्चे में अंततः विजय का गुरूर है। अब बागड़बिल्ले वाली टोपी उसके सिर पर नहीं। चुइंग-गम भी त्याग कर उसे रोबोट पर तिलक की तरह चिपका देता है। शुरू का संगीत लौट रहा है। वह फ्रिज खोल कर सेब निकालता है, साबुत खाता है। खाते-खाते खिड़की वाले कमरे में लौटता है तो खिड़की की ओर देख सहम जाता है। बाहर आकाश में एक पतंग अठखेलियाँ कर रही है। खिड़की से झांकता है। वही गरीबजान एक हाथ में चरखी, दूसरे से पतंग उड़ाने का सुख ले रहा है। पहली बार उसकी आँखों में भरपूर ख़ुशी और होठों पर अनवरत मुस्कान है। पीछे अलगोजे पर पुरसुकून राजस्थानी लोकधुन।

ऊपर से लड़का कभी आकाश में पतंग को देखता है कभी खुले खेत में हाथ नचाते लड़के को। हमें लगता है फिल्म से यहाँ जरूर पूरी होने के मोड़ पर है। पर तभी खिड़की के भीतर से हाथ उभरता है। हाथ में गुलेल है। अपनी 'मूंछ' के साथ लड़का नमूदार होता है। संगीत थम जाता है। लड़का पतंग पर गुलेल तान कर एक के बाद एक विफल निशाने साधता है। उसकी विफलता गरीब बच्चे की मुस्कान है। फिर अलगोजे की तान। उस मुस्कान में गुरूर नहीं है। फिर भी ऊपर यह बरदाश्त नहीं। कमरे में मुड़कर सोचता है। गुब्बारे फोड़ने वाली बड़ी बंदूक दीवार पर टिकी है। कुछ क्षण के लिए संगीत फिर शांत। फिर कुछ बदली हुई ध्वनि। वह बंदूक उठाकर छर्रे भरता है। एकाग्र निशाना। ध्वनि के नाम पर कोरी हवा की सरसराहट। और किसी फड़फड़ाते पक्षी की तरह पतंग जमीन पर। यहां कैमरा ऊपर से नीचे तेजी से जूम होता है।

इस दफा ऊपर मुस्कान कुछ चौड़ी है। फटी पतंग को फटी कमीज में फटी आँखों से देखता बालक खिड़की की ओर यों देखता है, जैसे अंततः कहना चाह रहा हो कि मैंने ऐसा तो कुछ न बिगाड़ा था! मूंछों वाला लड़का इठला कर जीभ दिखाता है। गरीब अपनी झोंपड़ी को चल देता है। फिल्म के ठीक शुरू वाला संगीत, ट्रम्पेट और ट्रंबोन, जैसे विजय का उद्घोष। लड़का बजने वाले सभी खिलौने एक साथ बजा छोड़ता है। ख़ुशी पूरे घर में पसर रही है। वह रोबोट में चाबी भर उसे फर्श पर छोड़ देता है, ताकि घर नाप आए।

तभी खिड़की से फिर बांसुरी की आवाज सुनाई पड़ती है। रोबोट को छोड़ वह खिड़की की ओर ताकने लगता है। यह उसी बांसुरी की आवाज है। साफ लगता है कि उसकी जीत हवा हो गयी। खिड़की यों प्रकट होती है जैसे पूरा आकाश हो, जो उसके पास नहीं है। वह उससे जीत नहीं पाएगा। मूंछें ऊपर हैं, पर सिर झुक रहा है। वह मुड़ता है और खिड़की की तरफ पीठ कर बैठ जाता है।

उधर रोबोट अपनी गति से चलते उस मीनार से टकरा जाता है, जो इसी बालक ने शुरू में जतन से बनाई थी। मीनार ढह जाती है।

खिड़की के पार बांसुरी का सुर जारी रहता है। उसे अब कोई नहीं रोकेगा। न ऊँची आवाज से दबा पाएगा। क्योंकि साधनहीन बच्चे में जीवट है।

अब तक आपने लक्ष्य कर लिया होगा कि □दो□ अत्यंत छोटी फिल्म होते हुए भी उतनी छोटी नहीं। मेरी समझ में वह बहुत बड़ी फिल्म है। इस अर्थ में कि वह हमारे समाज के एक बड़े दुराव को बड़ी सहजता से उठाती है। वह दो अकेले बच्चों की तकरार नहीं है। उसमें बच्चों का मनोविज्ञान है, आधुनिक खिलौनों का समाजशास्त्र है, टूटे हुए परिवारों की झलक है, अकेलेपन की पीड़ा और उसका असर भी है। वह वर्ग-भेद को उजागर करने वाली फिल्म भी है। साधनों के बीच पलती नाखुशी और गरीबी में निश्छल मुस्कान किसी तरह का सामाजिक सरलीकरण नहीं है, सिनेमा की भाषा में वह यथार्थ का सरल चित्रांकन जरूर है।

पूरी फिल्म में प्रतीक और बिम्ब बिखरे हैं। चाहे खिलौनों के रूप हों, उनकी बेमेल आवाजें, वाद्ययंत्रों के प्रकार, उनकी भौगोलिक और सांस्कृतिक दूरियां, बच्चे की टोपी या गोल मूंछ, दोनों ओर के मुखौटे, घर का सन्नाटा, खेत की सांय-सांय, लम्बे गलियारे, ऊँची दीवारें, दरवाजों में दरवाजे, खेत के बीच बड़ी दीवार, खेत के एक कोने पर झोंपड़ी — बंगले की तरह वहां भी कोई दूसरा प्राणी नहीं है।

फिल्म कला के छात्र निश्चय ही ऐसी फिल्म से बहुत कुछ सीख सकते हैं। थोड़े में बड़ी बात कहने की कला। सहज और सरल ढंग से। पारम्परिक कथा या संवादों के सहारे के बगैर। ऐसा कब-कब देखने को मिलता है?

फिल्म देखकर शायद आप भी मेरी बात से इत्तफाक करें।

अंत में, फिल्म की एक बड़ी खामी: इसमें केवल दो कलाकार हैं। एक अमीर घर का लड़का, दूसरा खेत वाला। लेकिन अभिनय के नाम पर फिल्म में हमें सिर्फ एक नाम पता चलता है, रवि किरण का। उसने अमीर बच्चे की भूमिका की है। लेकिन गरीब बच्चा? ठीक है वह किसी झुग्गी का वासी था, लेकिन उसका भी कोई नाम तो होगा! यह चूक इतने संवेदनशील, बाल-मनोविज्ञान को रूपायित करने वाले सत्यजित राय से हुई या बाद में किसी और से, कहा नहीं जा सकता।

लेख पूरा होते वक्त प्रो. दिलीप बसु ने बताया कि रवि किरण आजकल मर्चेंट नेवी में है। हो सकता है सेवा से निवृत्त भी हो गया हो। कुछ वर्ष पहले वह ‘दो’ फिल्म की तलाश में कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के राय अध्ययन केंद्र में पहुंच गया था। पूरी होने के बाद उसने कभी फिल्म देखी न थी!

मैंने कई दफा सोचा है, रवि किरण की तरह हमारा दूसरा अभिनेता बच्चा भी उतना ही बड़ा हो गया होगा। पता नहीं वह क्या बना हो; पर मुझे लगता है अपने अभिनय को परदे पर वह जरूर देखना चाहेगा। शायद उसे अब यह भी खूब समझ आए कि उसने महान सत्यजित राय के निर्देशन में काम किया था।

Om Thanvi Image(ओम थानवी। भाषाई विविधता और वैचारिक असहमतियों का सम्मान करने वाले विलक्षण पत्रकार। राजस्थान पत्रिका से पत्रकारीय करियर की शुरुआत। वहां से प्रभाष जी उन्हें जनसत्ता, चंडीगढ़ संस्करण में स्थानीय संपादक बना कर ले गये। फिलहाल जनसत्ता समूह के कार्यकारी संपादक। उनसे om.thanvi@ expressindia.com पर संपर्क किया जा सकता है।)